19

पौराणिक इतिहास की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

ठाकुर प्रसाद वर्मा

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में पुराण, रामायण और महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थ माने जाते हैं लेकिन विडम्बना यह है कि आज इस बात को सही ठहराने के लिए हमें अभियान चलाना पड़ रहा है। कारण यह है कि विगत दो शताब्दियों से ऐसा वातावरण बना दिया गया है कि भारतीयों का कोई इतिहास ही नहीं है। अपने 'संस्कृत लिटरेचर' नामक पुस्तक में मैक्डानेल इतिहास के बारे में लिखते हैं 'इतिहास भारतीय साहित्य का कमजोर बिन्दु है। वास्तव में इसका अस्तित्व ही नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि का इतना घोर अभाव है कि समस्त संस्कृत साहित्य इसकी कमी की छाया से ग्रस्त है जिसमें सटीक कालक्रम का नितान्त अभाव है।' कीथ लिखते है कि 'इस बात की कुख्याति है कि वैदिक साहित्य, संहिताएं और ब्राह्मण ऐतिहासिक काम के ग्रन्थ नहीं हैं और न ही वे इतिहास का वर्णन करते हैं।' पार्जीटर भी इससे सहमत हैं।[1] उनका, और प्रायः सभी यूरोपियन विद्वानों का मुख्य आक्षेप यही है कि ऋग्वेद की ऐतिहासिक घटनाएं समकालीन उल्लेख होते हुये भी संकेत मात्र हैं क्योंकि वे कालक्रम की दृष्टि से कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं बताती। यहाँ हम इसकी विस्तृत आलोचना में नहीं पड़ना चाहते लेकिन यह अवश्य कहना चाहते हैं कि जहाँ अन्य प्राचीन सभ्यताओं के विषय में इन यूरोपियनों ने निश्चित कालक्रम निर्धारण किया है वे अपने मूल में कामचलाऊ या अन्तरिम ही हैं और अब से मात्र दस हजार वर्षों के अन्दर ही होने के कारण लोगों को अपर्याप्त लगने लगे हैं। पी. प्रियदर्शी[2] के अनुसार अब डीएनए के आधार पर मानवीय व्यवहारों के लिए हजारों-लाखों वर्षों की बातें की जा रही हैं। राबर्ट बेडनारिक ने भी पुरातत्त्वज्ञों के दस हजार वर्षो के भीतर समस्त सभ्यताओं को समेट लेने की प्रवृत्ति को चुनौती दी है।[3]

उनके अनुसार पुराणों में जो कुछ भी लिखा गया मिलता है वह सब मिथक है तथा ब्राह्मणों की निरी कल्पना की उपज मात्र है। आज मिथक का अर्थ ही पौराणिक कल्पना या आख्यान हो गया है। लेकिन प्रारंभ में यह स्थिति नहीं थी। जब पहली बार यूरोपियनों का ध्यान भारतीय संस्कृति तथा साहित्य की ओर गया तो उनकी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया यह हुई कि कि उनको मानव की आदि जन्मस्थली मिल गई। लेकिन जब इसकी चर्चा बढ़ी तो ईसाई चर्च को लगने लगा कि बायबिल की सम्प्रभुता तथा स्थापनाओं को चुनौती दी जा रही है अतः यह प्रति-अभियान चलाया गया कि जिस किसी भी प्रकार से हो सके हिन्दू वर्चस्व को समाप्त किया जाय। वेदों के अनुवाद में मनमानी की गई। एक ऐसे भाषाशास्त्र की नींव रखी गई जो प्रेरित तो संस्कृत भाषा से थी तथा अनेक सूत्र उसी से लिये गये थे लेकिन हिन्दू-भीति के कारण संस्कृत को ही भाषाशास्त्रीय अध्ययनों से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन आज भी किसी भी भाषाशास्त्रीय चर्चा में बिना वेदों अथवा संस्कृत के उद्धरणों के काम नहीं चलता। पुराणों तथा महाकाव्यों की तो इससे भी अधिक दुर्दशा की गई। स्वतंत्रता के छः दशकों के बाद भी वेदों पर काम करनेवाले हमारे भारतीय विद्वान भी पुराणों को अपने अध्ययन में शामिल करने को तैयार नहीं है जब कि यह स्पष्ट कहा गया कि 'जो विद्याचतुर चारो वेदों को अंगों सहित पढ़ता है लेकिन उनका उपबृंहण पुराणों से नहीं करता उससे वेद भयभीत रहते हैं कि यह मेरे पर प्रहार करेगा।'[4]

पुराणों की प्रकृति

हमारी मान्यता के अनुसार पुराण भारत की सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य निधियाँ हैं। इनमें भारत ही नहीं संसार के इतिहास का उत्स तो निहित है ही समस्त मानवता के लिए जो कुछ भी कल्याणकारी हो सकता है उन सभी बातों और आचरण का समावेश इनमें किया गया है। पुराण इतिहास ग्रन्थ हैं अतः इनमें समय-समय पर समाज की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन होते रहे हैं। लेकिन समय-समय पर समाज में आनेवाली विपत्तियों से किस प्रकार के आचरण से नैतिकता एवं समन्वयपूर्वक निपटा जा सकता है इसका भी उपाय इन पुराणों एवं इतिहासग्रन्थों में बताया गया है। हमारे संस्कृति केन्द्र, तीर्थों के विवरण, उनकी यात्रा करके संस्कृति के मूल-तत्वों को बनाये रखने का प्रयत्न, पुराने इतिहास को सरल रूप से समझाने के लिए प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि देवताओं को मानवीय रूप में ढालकर प्रतीकों की रचना तथा खगोलीय, भूगर्भिक एवं भौगोलिक घटनाओं को इतने सरल ढंग से प्रस्तुत करना कि समाज का अन्तिम व्यक्ति भी स्मरण रख सके, आदि इसके ऐसे लक्षण हैं जो इसे अन्य साहित्य से अलग करते हैं। कलाओं तथा कौशलों के तत्त्वों की विवेचना भी पुराणों में मिलेगी। सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्ति एवं संसार के रचयिता के बीच के सम्बन्धों की विवेचना के लिए मानव की मूलप्रकृति, भक्ति के माध्यम से मानवमूल्यों को बनाये रखने की प्रणाली एक अद्‌भुत आविष्कार ही कहा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि पुराणों की प्रकृति ही विश्वकोशीय है।

लेकिन पुराण वास्तव में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, मूल रूप से संसार में होनेवाली पुरानी घटनाओं का विवरण रखने के स्रोत के रूप में कल्पित किये गये थे। इन्हें वेदों से भी प्राचीन माना गया है।[5] पुराणों का मुख्य विषय इतिहास ही माना गया है जो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर सूर्य के इस ग्रह धरती के सबसे अधिक विकसित जीव मानव तक के इतिहास को निरूपित करता है। इनके पाँच लक्षण बताये गये हैं: सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश तथा वंशानुचरित।[6] इनमें प्रथम दो तो सृष्टिविद्या से सम्बन्धित हैं लेकिन मन्वन्तर सूर्य के ग्रह धरती के इतिहास का भाग हैं। यह खगोलीय घटना से भी जुड़ा हुआ है अतः इसका खगोल विज्ञान से सम्बन्ध होते हुए भी यह सूर्यमण्डल तथा धरती के जीवनकाल से जुड़ा हुआ इतिहास है। मन्वन्तर धरती पर जीवों की उत्पत्ति तथा उसके विकास के विभिन्न चरणों की कहानी भी है। इसी प्रकार वंश तथा वंशानुचरित इस पृथिवी पर सातवें मन्वन्तर में पैदा हुए धरती के सबसे विकसित जीव, मानव के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। पुराणों में इतिहास का अर्थ 'इति' अर्थात् ऐसा, 'ह' अर्थात् निश्चयपूर्व, 'आस' अर्थात् हुआ, कहा गया है। इसका मतलब यह है कि अब तक सृष्टि में जो भी हुआ उसका लेखा-जोखा ही इतिहास है। अतः पौराणिक इतिहास में 'प्रागैतिहास' की अवधारणा ही नहीं है। लेकिन सबसे विचित्र बात यह है कि मन्वन्तरविज्ञान में भूतकाल ही नहीं वरन् भविष्य में घटित होनेवाली स्थिति का भी आकलन किया गया है जो सुनिर्धारित वैज्ञानिक अनुमान पर आधारित है। लेकिन स्पष्ट ही इन सबके केन्द्र में मनुष्य को ही माना गया है। इसी कारण पुराणों में वास्तुशास्त्र, संगीत, अन्य कलाओं के साथ-साथ विज्ञान सम्बन्धी विविध विषयों का भी बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णन मिलता है।

पौराणिक इतिहास के अनुशीलन से हमारी यह धारणा दृढ़ हुई है कि इसको आज के वैज्ञानिक उपलब्धियों की कसौटी पर भी परखा जा सकता है। इनमें खगोलविज्ञान (Astronomy), भूविज्ञान (Geology), भूगोल (Geography), पर्वतोत्थानशास्त्र (Orogeny), सृष्टिविद्या (Origin of Universe) तथा पृथिवी पर जीवन की उत्पत्ति (Origin of Life on Earth) आदि विज्ञान की ऐसी शाखाएं हैं जिनको पौराणिक इतिहास के अध्ययन में प्रमुखता से गिनाया जा सकता है। इनमें प्रथम चार का उल्लेख हम इतिहास-चर्चा में करेंगे। सृष्टिविद्या तथा जीवन की उत्पत्ति विषयों पर पहले लिखा जा चुका है।[7]

सबसे पहले खगोलविज्ञान के उस पक्ष की चर्चा करेंगे जो सीधे मानव तथा इतिहास से सम्बद्ध है। यह निश्चय पूर्वक

कहा जा सकता है कि जब से मानव ने होश संभाला है तब से ही वह सूर्य तथा धरती की गतियों को देखता रहा है जिसकी जानकारी हमें संसार के सबसे पुराने साहित्य ऋग्वेद के समय से ही मिलती है। वह इनके बारे में सोचता रहा है तथा खगोलीय पिण्डों की गतियों के बारे में सूक्ष्मता से जानकारियाँ एकत्रित करता रहा है। इस विषय में ऋग्वैदिकजन का ज्ञान आज के लोगों के लिए भी आश्चर्य तथा स्पर्धा का विषय बना हुआ है। इन खगोलीय गतिविधियों की जानकारी हम यहाँ सरल ढंग से वर्णित कर रहे हैं जो मन्वन्तर विज्ञान का मूल आधार है।

पृथिवी की तीन गतियाँ हैं, दो को तो हम दिन और वर्ष के रूप में अनुभव करते हैं लेकिन तीसरी गति अत्यन्त धीमी है जिसमें वह पूरे सौरमण्डल के साथ हमारी आकाशगंगा की प्रदक्षिणा करती है। प्रथम दो गतियों के विषय में एक उदाहरण है। लट्टू तो हम सब ने नचाया होगा। नाचते समय वह दो प्रकार की गतियाँ करता है। एक तो वह अपनी धुरी पर नाचता है और नाचते समय कुछ अंशो तक एक ओर झुक जाता है। लेकिन नाचते-नाचते वह एक परिक्रमापथ पर भी चलता रहता है। ठीक यही दशा हमारी पृथिवी की है जो अन्तरिक्ष में अपनी धुरी पर नाचते हुये 23.4^{0} एक ओर झुकी हुई भी है। इसमें वह 23 घण्टे 56 मिनट का समय लेती है। विषुवत रेखा पर यह गति 1000 किमी. प्रति घण्टा होती है। इस गति के कारण ही पृथिवी पर दिन और रात होते हैं। एक ओर झुके होने के कारण पृथिवी पर दिन और रात्रि की अवधि में घटाव तथा बढ़ाव होता रहता है। इसके आधार पर हिन्दुओं ने विशाल कालगणना के माप तैयार किये जिसकी चर्चा आगे करेंगे। पृथिवी की दूसरी गति अपने परिक्रमापथ पर सूर्य का चक्कर लगाने के रूप में होती है। पृथिवी की सूर्य से दूरी नौ करोड़ तीस लाख मील मानी गई है तथा वह 18.5 मील प्रति सेकेण्ड या लगभग 66,600 मील प्रति घण्टा की गति से अपने परिक्रमापथ पर दौड़ रही है। सूर्य का एक चक्कर पूरा करने में 365 दिन, पाँच घण्टे, 48 मिनट तथा 46 सेकेण्ड लगते हैं। इस अवधि को एक वर्ष कहा जाता है। अपनी धुरी पर एक ओर झुके होने के कारण पृथिवी के विभिन्न स्थानों पर क्रम से जाड़ा और गर्मी के मौसम होते रहते हैं जिससे दोनों गोलार्धों में वनस्पति तथा अन्य जीवन का चक्र संतुलित रहता है।

कालगणना का खगोलीय आधार

प्राचीन भारतीयों ने पृथिवी की इन दोनों प्रकार की गतियों का प्रयोग विशाल खगोलीय गणनाओं को करने के लिए किया। आजकल वैज्ञानिक प्रकाश की गति (तीन लाख किमी प्रति सेकेण्ड) को इकाई मान कर ब्रह्माण्डीय पिण्डों की दूरी तथा गति की माप करते हैं। यद्यपि सूर्य किरणों की गति भारतीयों को ज्ञात थी तथा चौदहवीं शताब्दी में सायणाचार्य ने इसका उल्लेख ऋग्वेद के अपने भाष्य में किया है लेकिन भारतीय वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्डीय दूरियाँ नापने के लिए इसका उपयोग नहीं किया।

प्रकाश की गति (हिन्दू साक्ष्य)

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 50वें सूक्त के चौथे मन्त्र की व्याख्या करते समय आचार्य सायण ने सूर्य-रश्मि के वेग की चर्चा की है। ऋग्वेद का मंत्र इस प्रकार है: तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोवनम्।। इसमें तरणिः का अर्थ है महावेग करते हुए। आचार्य सायण अपने भाष्य में लिखते हैं कि 'हे सूर्य तुम्हारी तरणि या किरणें अति वेग से चलती है; इसके बाद वे एक प्रचलित श्लोक कहते हैं:

योजनानां सहस्रे द्वे द्वेशते द्वे च योजने। एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोस्तु ते।।

अर्थात् 'तुम्हारी गति आधे निमेष में दो हजार दो सौ योजन; तुम्हे नमस्कार है।' लगता है कि यह श्लोक नित्य की प्रार्थना में प्रयोग में आता था जिससे श्लोक के कर्ता का सन्दर्भ नहीं दिया गया है।

डॉ.कपिलदेव द्विवेदी जी लिखते हैं कि "निमेष क्या है इसके स्पष्टीकरण के लिए महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय 231 के श्लोक 12-13 में उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार 15 निमेष की एक काष्ठा, 30 काष्ठा की एक कला, 30 कला और 3 काष्ठा का एक मुहूर्त होता है, तथा 30 मुहूर्त का एक दिन-रात्रि होती है। इसकी गणना उन्होंने इस प्रकार दी है:"

आधा निमेष का मान

(क) 1 दिन-रात = 24 घण्टे या 24 घण्टे में 30 मुहूर्त

(ख) 1 मुहूर्त = 40 मिनट या 1 मुहूर्त 301/30 कला

(ग) 1 कला = लगभग सवा मिनट (1.33 मिनट या 80 सेकेण्ड)

(घ) 1 काष्ठा = लगभग 2.7 सेकेण्ड या 1 काष्ठा = 15 निमेष

(ङ) 1 निमेष = लगभग 2 सेकेण्ड से कुछ कम या सेकेण्ड का पांचवा भाग

1/2 = 8/75 निमेष (या सेकेण्ड का दसवां भाग)

योजन का मान

भारत सरकार के एक प्रकाशन के अनुसार 1 योजन = 9 मील, 110 गज या 91/16 मील या 90625 मील। योजन का यह नाप मानने पर प्रकाश की गति 1,87,084.1 अर्थात् लगभग 1 लाख, 87 हजार मील प्रति सेकेण्ड होती है। माइकेलसन ने प्रकाश की गति प्रति सेकेण्ड 1,87,372.5 मील मानी है।

सर मोनियर विलियम्स ने अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी तथा वी.एस. आप्टे ने अपने संस्कृत-इंगलिश कोष में योजन का नाप 9 मील माना है। इसके अनुसार गणना करने पर प्रकाश की गति 1,86,413.22 मील प्रति सेकेण्ड अर्थात् एक लाख छियासी हजार मील से कुछ अधिक आती है।" यह 3 लाख किमी प्रति सेकेण्ड होता है।[8]

वर्षमान बड़ा क्यों होता जा रहा है?

भारतीय कालगणना का आधार पृथिवी की गति है जो वैज्ञानिक तो है ही दैनन्दिन व्यवहार के अनुरूप भी है। हम बता चुके हैं कि हमारी पृथिवी को सूर्य का एक चक्र पूरा करने में एक वर्ष का समय लगता है जो वर्तमान में 365 दिन, 5 घंटा, 48 मिनट तथा 46 सेकेण्ड होता है। लेकिन वेदों में 360 दिनों या 720 अहोरात्र का ही एक वर्ष माना गया है। संसार की प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में तीन सौ साठ दिनों का ही वर्ष माना गया है। इसी के आधार पर एक वृत्त को 360 अंशो में बाँटा जाता है जो सभी प्रकार की ज्यामितिक गणनाओं में अभी भी मान्य है। प्रश्न यह है कि ऐसा कैसे हो गया कि वर्तमान में वर्षमान 5 दिन, 5 घण्टा, 48 मिनट तथा 46 सेकेण्ड बढ़ गया।

इसके उत्तर में यह ध्यातव्य है कि आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निरन्तर विस्तार हो रहा है। सभी ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे से दूर भाग रहे हैं। पृथिवी तथा सूर्य के बीच की दूरी बढ़ रही है तथा पृथिवी का प्रदक्षिणावृत्त (परिधि) 10 हजार वर्षों में 1 किमी बढ़ जाता है। इसके साथ ही उसकी घूर्णन गति में भी कमी आ रही है। इन दोनों कारणों से धरती के परिक्रमाकाल में 1 करोड़ 60 लाख वर्षों में एक घण्टे की वृद्धि हो जाती है। गणना करने पर परिक्रमाकाल में 5 दिन, 5 घण्टा 48 मिनट तथा 46 सेकेण्ड बढ़ने के लिए लगभग दो अरब वर्षों का समय लगता है। भारतीयों के सृष्टि संवत् में अब से

एक अरब पञ्चानबे करोड़ अट्ठावन लाख पचासी हजार एक सौ तेरह वर्ष (1,95,58,85,113 वर्ष) (ई.सन्. मार्च 2012 में) हो गये। अर्थात् इस धरती पर जीवन की सृष्टि इतने वर्ष पूर्व शुरू हुई थी। लेकिन कहा गया कि ब्रह्मा को सृष्टि रचना की तैयारी में एक करोड़, सत्तर लाख, चौंसठ हजार वर्ष लग गये थे जिसको जोड़ लेने पर यह संख्या एक अरब सत्तानबे करोड़, ऊनतीस लाख, ऊनचास हजार, सात सौ तेरह वर्ष (1,97,29,49,713 वर्ष) हो जाती है। ईसवी सन् 2012 से इतने वर्ष पहले पृथिवी सूर्य की एक परिक्रमा 360 दिनों में ही किया करती थी। यह गणित की बात है। हिन्दू अपना पञ्चांग सौर तथा चान्द्र गति से बनाते हैं और तिथियों के निर्धारण के लिए चान्द्र गणना से उनका काम चल जाता था। इस व्यवस्था में अभी भी एक वर्ष 360 दिनों का ही होता है तथा वर्षमान में होने वाली वृद्धि को पूरा करने के लिए हर तीसरे वर्ष एक अतिरिक्त मास जोड़ देने की व्यवस्था की गई जिसे मलमास या पुरुषोत्तममास भी कहा जाता है। यूरोप में काल के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक अराजकता रही। राजा या पोप की अभिषेक तिथि से कालगणना का प्रचलन था। वहाँ पर केवल सूर्य की गति पर आधारित कालगणना चलती रही जिसके परिणामस्वरूप बहुत दिनों तक त्रुटियाँ चलती रहीं। पोप ग्रेगरी 13वें ने 1582 में पंचांग में सुधार की घोषणा की लेकिन ईसाई प्रथा को नहीं अपनाया तथा नव वर्ष 25 मार्च से ही चलता रहा (उल्लेखनीय है यह भारतीय पंचांग से प्रभावित था जिसका अनुपालन सारे सभ्य संसार में किया जाता रहा)। इंग्लैंड में 1751 में पार्ल्यामेन्ट ने एक बिल द्वारा वर्ष का प्रारम्भ 25 मार्च की अपेक्षा 1 जनवरी से कर दिया गया जो 31 दिसम्बर 1751 के बाद के दिन को 1 जनवरी 1752 मान लिया गया। यही नहीं जूलियन कैलेन्डर में आ गई त्रुटियों को ठीक करने के लिए 2 सितम्बर 1752 को 14 सितम्बर 1752 कर दिया गया।[9] इस प्रकार अचानक एक कानून बनाकर सभी लोगों की आयु से 13 दिन कम कर दिये गये।

कालगणना का भूगोलीय आधार

भारतीय कालगणना के लिए मानववर्ष तथा दैवीवर्ष को आधार बनाया गया है। विषुवत रेखा पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती है अतः वहाँ दिन और रात की अवधि प्रायः समान होती है लेकिन दोनों ही गोलार्धों में ध्रुवों की ओर बढ़ने पर इसमें अन्तर पड़ने लगता है। हम चर्चा कर चुके हैं कि धरती अपनी धुरी पर 23.4 अंश झुकी हुई है अतः ध्रुवों पर छः महीने का दिन तथा छः महीने की रात होती है। इन्हें देवों के दिन तथा देवों की रात नाम दिया गया। इस प्रकार देवों का एक दिन-रात मानवों के 360 दिन-रात या एक वर्ष जितना लम्बा होता है। अतः एक दैवीवर्ष में 360 मानवी वर्ष होते हैं।

ऐसा माना गया कि एक युग 1000 दैवीवर्षों का होता है। इसके प्रारम्भ एवं अन्त में एक सौ वर्षों का सन्धिकाल माना गया। अतएव एक युग 1200 दैवी वर्षों का हुआ। इसको मानवी वर्ष बनाने के लिए 360 से गुणा करना पड़ेगा जो चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का होता है। कालगणना की यह सबसे छोटी इकाई मानी गई और इसे कलि नाम दिया गया। कलि = कलने या गणना करने के कारण है न कि अच्छे या बुरे होने के कारण। वर्तमान में कलियुग बुराइयों के युग के रूप में जाना जाता है। इसका दूना द्वापर, तीनगुणा त्रेता तथा चारगुणा कृत (= चार) कहा गया। इन चारों को मिलाकर एक चतुर्युगी बनती है जो इस प्रकार है:

कलि 4,32,000 मानववर्ष

द्वापर 8,64,000 मानववर्ष

त्रेता 12,96,000 मानववर्ष

कृत 17,28,000 मानववर्ष = योग 43,20,000 वर्ष या 12,000 देववर्ष अथवा एक चतुर्युगी।

इस तरह पृथिवी का सम्पूर्ण जीवनकाल 1000 चतुर्युगियों का माना गया है जो 4 अरब 32 करोड़ वर्ष का होता है। इसका उल्लेख अथर्ववेद में इस प्रकार हुआ है :

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृष्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनुमन्यन्ताहृणीयमानाः।। 8/2/21

अर्थात् ''मैं एक सौ अयुत (यानि 10,000x100) वर्षों (= हायनान) का 2,3,4 वर्षों युग बनाता हूँ, जिसमें इन्द्र की अग्नि, विश्वेदेवाः (या सभी के देवता) तथा प्रत्येक मनु (अनुमन्यन्ता) नष्ट हो जाते हैं (हृणीयमानाः)।'' अर्थात् एक अयुत अथवा दस हजार वर्षों का एक सौ गुना या 10,000,00 होता है जिसके बांई ओर ('अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार) 2, 3, और 4 रखें, और इस प्रकार जो अंक मिलेंगे वे 4,32,00,00,000 (चार अरब, बत्तीस करोड़) वर्ष बनते हैं। यह पृथिवी की सम्पूर्ण आयु है जिसके बाद पृथिवी और उस पर का जीवन नष्ट हो जायेगा।

इस मूल के साथ प्राचीन भारतीयों ने बहुत बड़ी-बड़ी संख्याओं को निकाला है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के काल से सम्बद्ध हैं। लेकिन उसके विस्तार में न जा कर हम यहाँ पृथिवी के जीवनकाल की ही चर्चा करेंगे। इस विशाल कालखण्ड को 14 भागों में इसलिये बाँटा गया है कि इस अवधि में धरती सहित हमारा सौरमण्डल आकाशगंगा के 14 चक्कर लगा लेता है। प्रत्येक चक्र को मन्वन्तर नाम दिया गया जिसमें जीवन के विकास के अपने लक्षण होते हैं तथा प्रति अगले चक्र में जीवन कुछ और विकसित होता जाता है। अब तक छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है जिसमें अब तक का सबसे विकसित प्राणी मनुष्य अस्तित्व में है। जीवन विकास की दृष्टि से यह आरोह काल चल रहा है अर्थात् सूक्ष्म से स्थूलता की ओर बढ़ रहा है। इसके बाद आठवें मन्वन्तर से अवरोह काल प्रारम्भ होगा अर्थात् स्थूलता कम होती जायेगी और सूक्ष्मता बढ़ती जायेगी और चौदहवें मन्वन्तर की समाप्ति पर सब कुछ सूक्ष्म में लीन हो जायेगा। श्रीवासुदेव पोद्दार का कहना है कि ''मन्वन्तरविज्ञान भारतीय ऋषि-चिन्तन की महती मनीषा का एक ऐसा अपूर्व विज्ञान है जिसकी सहायता से हम 4 अरब, 32 करोड़ वर्ष के इस ग्रह के भूत, भविष्य और वर्तमान का ऐतिहासिक काल-प्रवाह बड़ी सहजाता से जान सकते हैं। किसी भी मन्वन्तर के किसी भी महायुग के किसी भी कालबिन्दु पर पृथिवी के इतिहास की क्या गति, यति और नियति है -- इस विज्ञान की सीमा में अलक्षित नहीं। पृथ्वी के भावी दो अरब से अधिक अवशिष्ट काल में जीवन का प्रवाह और जैव-विकास का स्वरूप किन-किन घुमावों और परिस्थितियों से होता हुआ गतिशील होगा, उसका आकलन मन्वन्तर विज्ञान के अध्ययन द्वारा जाना जा सकता है।''[10] मन्वन्तर विज्ञान[11] के तत्वों की सूक्ष्म विवेचना में न जाकर हम पुनः इतिहास की ओर लौटते हैं।

पृथिवी, जल और जीवन

पुराणों के अनुसार पृथिवी पर पहले जल ही जल था। नारा अथवा जल में रहने के कारण ही भगवान् को 'नारायण' कहा जाता है।[12] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के परिशिष्ट यजुर्वेद में कहा गया है:

अद्भ्यःसम्भृतःपृथिव्यैरसाच्चविश्वकर्मणःसमवर्त्तताग्रे।
तस्यत्वष्टाविदधद्रूपमेतितन्मर्त्यस्यदेवत्वमाजानमग्रे।।

पुरुषसूक्तः परिशिष्ट यजुर्वेद 31/17

अर्थात् पहले पृथिवी पर जल तथा विश्वकर्मण (नारायण) ही थे। त्वष्टा ने उसके पूर्व में स्थित मर्त्य तथा देवों के विविध रूपों को गढ़ा। पृथिवी पर जल से जीवन की उत्पत्ति का पहला लिखित उदाहरण है। यह ध्यान रखने की बात है कि सम्पूर्ण ज्ञात ब्रह्माण्ड में केवल पृथिवी पर ही जल वाष्प, द्रव तथा ठोस रूपों में उललब्ध है तथा निरन्तर एक से दूसरा तथा तीसरा रूप धारण करने का चक्र चलता रहता है जो जीवन के उद्भव तथा उसकी विविधता के लिए परम आवश्यक तत्त्व है।

पृथिवी के जन्म के बाद से ही जबसे इसके वातावरण में जल कैद हुआ है तबसे ही जीवन के विविध रूपों का अस्तित्व में आना प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक नये मन्वन्तर में जीवों में भौमिक तत्त्व बढ़ जाते हैं तथा सूक्ष्म तत्त्व घटते जाते हैं जिसको वैज्ञानिकों ने इवोल्यूशन (evolution) नाम दिया है। लेकिन मन्वन्तर का विकासवाद, इवोल्यूशन से भिन्न है। यदि संसार के संग्रहालयों में अरबों की संख्या में संरक्षित जीवाश्मों को मन्वन्तर के अनुसार व्यवस्थित करके अध्ययन किया जाय तो चित्र के अधिक स्पष्ट होने की सम्भावना है। लेकिन इसके लिए धरती जीवन के पाश्चात्य कालक्रम पर फिर से विचार करने की आवश्यकता होगी।

इस क्रम में यह उल्लेखनीय है कि जीवों के उत्थान में सूक्ष्म भौतिक स्वरूप में प्राण तो पड़े और उनका आकार भी बढ़ते-बढ़ते डायनासोर तक बढ़ता गया लेकिन उनमें बुद्धि का अभाव था। इसकी क्षतिपूर्ति मानव के उद्‌भव से हुई जिसमें प्रज्ञा का समावेश मिलता है। मन्वन्तरविज्ञान के अनुसार अब अगले चरण में प्रज्ञा का क्रमशः उन्नयन होता जायेगा और शरीर की भौतिकता का ह्रास होता जायेगा। अन्त तक भौतिकता अपने निम्नतम बिन्दु पर आ जायेगी और केवल प्रज्ञा रह जायेगी। यह धरती का अन्तिम समय होगा।

धरती पर जल के अवतरण का इतिहास प्रतीक रूप में गंगावतरण कथा के माध्यम से कहा गया है। इस सम्बन्ध में कई कथायें हैं और इनमें इतिहास के कालक्रम को भी खोजा जा सकता है। इनमें दो विशेष प्रसिद्ध हैं। एक कथा श्रीमद्‌भागवत पुराण[13] में आती है जिसमें गंगाजी मेरु पर्वत पर उतरती हैं। इस ब्रह्माण्ड में गंगा को विष्णुपदी कहा गया है। वहाँ से इन्दुमण्डल होते हुये वे मेरु के शिखर पर ब्रह्मपुरी में उतरती हैं। वहाँ से वे सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इन चार नदियों के रूप में मेरु के चारों दिशाओं में बहती हैं। यह कथा पूर्व काल की है जब मानव (वैदिक) सभ्यता मध्य-एशिया में जन्म ले रही थी। इसके बाद गंगावतरण की दूसरी कथा हिमालय के उत्थान के साथ जुड़ी है। यह कथा रामायण[14] तथा महाभारत[15] में मिलती है। इसके साथ भगीरथ का नाम जुड़ा हुआ है। गंगा हिमालय पर उतरती हैं। कहा गया कि वे आकाश से शिव की जटाओं में उतरकर भटकती रहीं, शिव ने उन्हें मुक्त कर दिया और वे सात नदियों के रूप में बहने लगीं। महाभारत में इन नदियों के नाम दिये गये हैं।[16] लेकिन यहाँ हम जिस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं वह यह है कि जो आकाशीय जल इस धरती के वातावरण में समा गया था वह अन्तरिक्ष के बाहर नहीं निकल सकता। वह पहले पर्वतों की चोटियों पर उतरा और हिमनदों के रूप में जम गया। इन्हीं को वेदों में वृत्र कहा गया है जिनको मारकर इन्द्र ने नदियों के रूप में मुक्त किया। जल वाष्प रूप में धरती के वातावरण में विद्यमान रहता है जिसे आर्द्रता या नमी कहते हैं। धरती पर उतरकर यह द्रव एवं ठोस रूप में विद्यमान है। जीवन को धारण करने के लिए यह जल सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। इनका कोई भी असन्तुलन जीवन के लिए अनिष्टकारी हो सकता है। पुराणकारों ने गंगावतरण की कथा के माध्यम से प्रतीकात्मक रूप में जन-जन को शिक्षित करने का प्रयास किया है।

मन्वन्तर विज्ञान की चर्चा की जा चुकी है। इस क्रम में छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। अब सातवें मन्वन्तर में प्राणी वनस्पतियों जैसे सूक्ष्म जीवन से विकास करता हुआ सर्वाधिक विकसित मानव के रूप में अस्तित्व में आया है। इसके पूर्व के मन्वन्तरों में जीव की स्थूलता बढ़ते-बढ़ते विराटकाय डायनासोर तक अपने चरम पर पहुँच गई थी। लेकिन उसमें प्रज्ञा अथवा तर्कशक्ति का अभाव था। मानव अन्य सम्वेदनाओं के साथ भाषा तथा तर्क-वितर्क की शक्ति से भी सम्पन्न है जिसके कारण वह काफी हद तक किसी कार्य को करने अथवा न करने के लिए स्वतंत्र है; और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने पर उसका दण्ड भी भोगना पड़ता है। इसके कारण वह अपने तथा किसी संचालक शक्ति के बारे में विचार करने की क्षमता भी रखता है। इसके साथ ही वह विगत की स्मृतियों को संजोकर रखने की क्षमता से भी युक्त है जिसे इतिहास कहा जाता है। अतएव इतिहास का मूल विषय मानव तथा उसके कार्य-कलाप ही हैं। वह ब्रह्माण्ड तथा उसकी रचना के विषय में भी सोच सकता है। अन्य जीव इस जटिलता से मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। विश्व के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में मानव का इतिहास अभी

बहुत ही अल्प अवधि का है। पुराणों के अनुसार वह केवल बारह करोड़ पाँच लाख वर्ष पूर्व इस धरती पर आया तथा उसी समय से सातवें अथवा वैवस्वत मन्वन्तर से प्रारम्भ होता है।

व्यक्तमध्य का सिद्धान्त

इस समस्त इतिहास को किसी ने देखा तो नहीं फिर भी इतने निश्चय पूर्वक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक मन्वन्तर इतने वर्ष पूर्व हुआ था। वह कौन सा सिद्धान्त है जिसके आधार पर इन विशाल संख्याओं वाली गणनाओं का सिद्धान्त काम रहा है। मानव को पैदा हुए अभी बारह करोड़ वर्ष भी नहीं हुये हैं लेकिन वह अरबों-खरबों वर्षों की बातें तथा विराट ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में इतने विश्वास के साथ कैसे बड़े-बड़े दावे कर रहा है। इतनी पुरानी बातों को वह कैसे जान पाया। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ईश्वर ने जो तर्कबुद्धि मनुष्य को दी है वह बड़ी अद्‌भुत है। उसने निगमन विद्या के आधार पर यह देखा कि ग्रह-नक्षत्र आदि नित्य प्रति बन और बिगड़ रहे हैं। नीहारिकाओं और मन्दाकिनियों का बनना और बिगड़ना चलता रहता है। विभिन्न प्रकार के जीव पैदा होते हैं तथा मर कर विलीन हो जाते हैं। यह सब कैसे हो रहा है। वे कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते हैं यह कोई नहीं जानता। सब कुछ केवल बीच में ही दिखाई पड़ता है; वे अव्यक्त में से निकलते हैं और अव्यक्त में ही विलीन हो जाते हैं। उनका आदि और अन्त दोनों ही अव्यक्त रहता है। पूर्व मनीषियों ने इसी सूत्र को पकड़ कर तर्क-वितर्क का सहारा लेकर बड़ी-बड़ी रचनायें कर डाली। गीता में भगवान् श्रीकृष्णजी ने इसके संकेत दिये हैं। अर्जुन को समझाते हुए वे बताते हैं कि इस संसार के बारे में हम केवल व्यक्त-मध्य के बारे में ही जानते हैं; उनका न तो आदि पता है और न ही अन्त। ऐसे में इसके लिए परिवेदना (दुःख) की क्या बात है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना।। गीता, 2/28

इसे ही व्यक्त-मध्य का सिद्धान्त कहा जाता है। खगोल विज्ञानी जानते हैं कि यही कार्य ब्रह्माण्ड में भी चल रहा है। अभी तक तो यह नहीं जाना जा सका है कि ग्रह-नक्षत्र या आकाश-गंगाएं और नीहारिकाएं आदि कैसे निर्मित हो रही हैं तथा नष्ट हो जाने पर कहाँ विलीन हो जाती हैं। जो हम जानते हैं वह मात्र बीच का ही स्थूल काल है। इसी को आधार मान कर काल की बड़ी-बड़ी संख्याओं की कल्पना की गई है। यह मात्र संयोग ही नहीं है कि वर्तमान ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष मान ली गई है और इस समय उनके इक्यानवे वर्ष का पहला दिन है जो चल रहा है और अभी दो अरब वर्षों से अधिक तक चलता रहेगा जिसके बाद चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की रात आयेगी जिसमें सब कुछ विलीन हो जायेगा। यह व्यक्त-मध्य का सिद्धान्त ही सारी कल्पानाओं की रीढ़ बना हुआ है।

हमारा मन्वन्तर सिद्धान्त भी इसी सोच का परिणाम है। अब तक छः मन्वन्तर[17] बीत चुके हैं और सातवाँ मन्वन्तर प्रारंभ हुये बारह करोड़, पाँच लाख, तेंतीस हजार वर्ष बीत चुके हैं। इसकी चर्चा की जा चुकी है, अब इस नये मन्वन्तर की चर्चा करते हैं।

वैवस्वत मन्वन्तर

इस मन्वन्तर को वैवस्वत इस लिए कहा जाता है कि वर्तमान मनु के पिता विवस्वान थे जो देवता माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा प्रचलित है उसमें बड़ी सफाई के साथ देवों और मर्त्यों को अलग किया गया है। विवस्वान दैवी तत्व हैं। उनकी पत्नी सरण्यू त्वष्टा की पुत्री है। उनसे सबसे पहले यम-यमी नामक युगल पैदा होते हैं। उसके बाद सरण्यू अपनी सवर्णा (छाया) को विवस्वान के पास छोड़कर चली जाती है। उससे मनु का जन्म होता है। फिर विवस्वान को

असलियत का पता चलता है तो वे सरण्यू को खोजते हुये उत्तरकुरु में जा मिलते हैं तथा उनसे अश्विनीकुमार (युगल) पैदा होते हैं। इस प्रकार मर्त्य और दैवी तत्व पृथक किये गये। ऋग्वेद (10/17/1) में भी इसी बात का उल्लेख किया गया है। विस्तार के भय से उन बातों की चर्चा संभव नहीं है। लेकिन अश्विनीकुमार उत्तरकुरु में पैदा हुये थे यह उल्लेखनीय है। इससे स्पष्ट है कि उस काल में वह क्षेत्र देवताओं के साथ मनु के लिए भी गम्य था; घोड़ों की उत्पत्ति के लिए तो विख्यात है ही। मनु से ही मानव वंश चला और मानव के इतिहास का प्रारम्भ उन्हीं से किया जाता है। भारतीय पुराणों तथा महाकाव्यों में यह एक इतिहास कथा के रूप वर्णित है जिसमें वे एक नौका पर बैठ कर प्रलय से बच जाते हैं तथा उत्तरगिरि (मेरु) पर नौका बन्धन करने के बाद सृष्टि प्रारम्भ करते हैं। इस प्रलय की स्मृति सभी प्राचीन सभ्यताओं में मिलती है लेकिन किंचित विद्रूप कथा के रूप में। लेकिन इन सभी कथाओं में दो बातें समान हैः एक तो यह कि सभी मनुष्यों का प्रारम्भ एक ही स्रोत से हुआ था, न कि चार विभिन्न प्रकार के वनमानुषों या बन्दरों से। वे विभिन्न जनजातियों के रूप में विभक्त होकर अलग-अलग संस्कृतियों एवं धर्मों में बँट गये। दूसरी यह कि प्रारम्भ में सब लोग एक ही भाषा बोलते थे और वे भाषायें अलग-अलग हो गईं। अथर्ववेद (12/1/45) में कहा गया है कि "पृथिवी नाना प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले तथा अनेक भाषाओं के बोलने वाले मनुष्यों को धारण करती है।" (जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्)। बायबिल तथा कुरआन में जो कथा मिलती है वह इतिहासज्ञों द्वारा सर्वाधिक प्रचारित है लेकिन पुराणों की कथा देखने के बाद यह लगता है कि वह किसी असली चित्र का कार्टून मात्र है। वहाँ मनुष्य ईश्वर के प्रकोप के कारण प्रलय[18] का शिकार बनता है तथा ईश्वर के ही क्रोध के कारण, जो यह नहीं चाहता था कि सब एक साथ रहें और एक दूसरे की भाषा समझें, अपनी भाषा भूल जाते हैं।[19]

पुराणों की कथा के परिप्रेक्ष्य में बायबिल की कथा को देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि यूरोपीय विद्वानों ने, जो कट्टर ईसाई थे, पुराणों को क्यों बदनाम किया था।

अब हम मनु की कथा में सन्निहित वैज्ञानिक तथ्यों की विवेचना करेंगे जिसमें इतिहास, भूगोल, भूविज्ञान, पर्वतोत्थान आदि अनेक शास्त्रों में विज्ञान की वर्तमान प्रगति का सहारा लिया गया है।

मनु की नौका

बायबिल में मनु की नौका की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई की नाप दी गई है जिसको विज्ञानोचित सिद्ध करने के लिए अनेक लेख लिखे गये हैं जिनके बारे में अन्तर-तरंग (Internet) से जाना जा सकता है। यहाँ हम उसकी आलोचना में न जाकर पौराणिक कथा में मनु की नौका के वैज्ञानिक आधार की चर्चा करेंगे।

यह आस्था नहीं वैज्ञानिक इतिहास का प्रश्न है कि जिस नौका को खींचने के लिए स्वयं भगवान् विष्णु को मत्स्य का रूप धारण करना पड़ा वह क्या कोई साधारण नौका हो सकती है। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारे मन में आज के वैज्ञानिक जगत में प्रचलित महाद्वीपीय अपसरण तथा पटलविवर्तन (Continental Drift and Plate Tectonics) के सिद्धान्तों की बात आई जिसकी चर्चा यहाँ करना चाहते हैं।

महाद्वीपीय विचलन सिद्धान्त के सन्दर्भ में देखें तो मनु की यह नौका भारतीय महाद्वीप हो सकता है। ऋग्वेद (10/63/1) में पृथिवी को दैवीनौका (पृथिवी दैवी नावं) कहा गया है तो समुद्र में चलना चाहिए जैसे धरती अन्तरिक्ष में चलती है। इस आधार पर यह सम्भव है कि मनु की वह नौका एक महाद्वीप रहा हो। महाद्वीपीय विचलन के सिद्धान्त के अनुसार समस्त पृथिवी पर भारतीय महाद्वीप ही सबसे चंचल रहा है जिसने अन्टार्कटिका से टूट कर लगभग 9000 किमी. की यात्रा की और एशिया महाद्वीप से जुड़ कर धरती के सबसे विकसित प्राणी, मानव की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। भूवैज्ञानिकों के अनुसार इस यात्रा में कई पड़ाव आये और यह बीच-बीच में रुक-रुक कर चलता रहा है।[20] कहा जाता है कि

एशिया भी दक्षिण की ओर बढ़ रहा था तो उत्तर की ओर बढ़ता हुआ महाद्वीप उससे टकरा गया या कहें कि जुड़ गया। इसके कारण गतिज ऊर्जा में व्यवधान रूप से मनु की यह नौका इसी उत्तरगिरि के श्रृंग में बाँध दी गई। इस प्रक्रिया में भी हजारों लाखों वर्ष लग गये होंगे। अतः यह एक भूगर्भिक घटना थी। परिणामस्वरूप एशिया और भारत की पर्वत श्रृंखलायें अस्तित्व में आईं। उल्लेखनीय है कि ऐसी ही एक भूगर्भिक घटना दक्षिणी यूरोप में भी हुई जब अफ्रीका महाद्वीप उत्तर की ओर बढ़ा तथा इटली का प्रायद्वीप यूरेशिया से टकरा गया जिससे आल्प्स पर्वत श्रृंखला अस्तित्व में आयी। हिमालय की तुलना में इसका अल्प नाम सटीक तथा सार्थक कहा जायेगा। इस प्रकार दो महाद्वीपों के सम्मिलिन से पर्वत उत्थित होने लगे। सबसे पहले मेरु की उत्पत्ति हुई (पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः) (महा.14/44/13)। मेरु की उत्पत्ति के बाद हिमालय का उठना शुरू हुआ।

इस प्रक्रिया को समझने के लिए नीचे दिये चित्र को ध्यान से देखना होगा। इसमें भारतीय महाद्वीप के पाँच चित्र दिये गये हैं। सबसे नीचे का चित्र एक प्राचीन स्थिति को दर्शाता है जिसमें भारतीय महाद्वीप विषुवत रेखा के दक्षिण में है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि बंगाल की खाड़ी वाला भाग दक्षिण की ओर है। रामायण में जिस दक्षिण समुद्र का उल्लेख है और जिसको हनुमानजी ने लंका जाते समय पार किया था[21] वह यही है क्योंकि वे उड़ीसा के महेन्द्रपर्वत से उड़े थे। आज यह पर्वत समुद्र तट से काफी दूर है। समुद्र के इस पटाव में कितना समय लगा होगा यह भूवैज्ञानिक ही बता पायेंगे और वही काल राम की कथा का मानना होगा। महेन्द्र के पास ही मलय भी है। इसके बाद तीसरा चित्र विषुवत रेखा को काफी कुछ पार कर चुका है और चौथा चित्र एशिया महाद्वीप से मिलने की स्थिति में है। लेकिन इसमें पाँचवा चित्र सबसे महत्वपूर्ण है जिसमें भारतीय महाद्वीप का दक्षिणी भाग दाहिनी ओर घूमता दिखाया गया है तथा लगभग वर्तमान स्थिति में आ गया लगता है; अर्थात् बंगाल की खाड़ी अब पूरब दिशा में आ जाती है। या यह कह सकते हैं कि दक्षिणसमुद्र पूर्वीसागर अथवा बंगाल की खाड़ी बन जाता है। यह सब महाद्वीप की गति में अवरोध के कारण हुआ। पश्चिमोत्तर भाग के एशिया से टकराने के बाद गति अवरुद्ध हो गई लेकिन गत्यात्मक ऊर्जा के कारण दक्षिणी भाग दाहिने घूमने लगा और विन्ध्य के पूर्वी भाग का पेंदा या आधार समुद्र के अन्दर ही अन्दर एशिया की भूमात्रा में घुसने लगा और एशिया की भूमि ऊपर उठने लगी। इस भूगर्भिक क्रिया में कुछ अन्य क्रियाएं भी सक्रिय हो गईं जिनके कारण हिमालय की उत्पत्ति हुई।

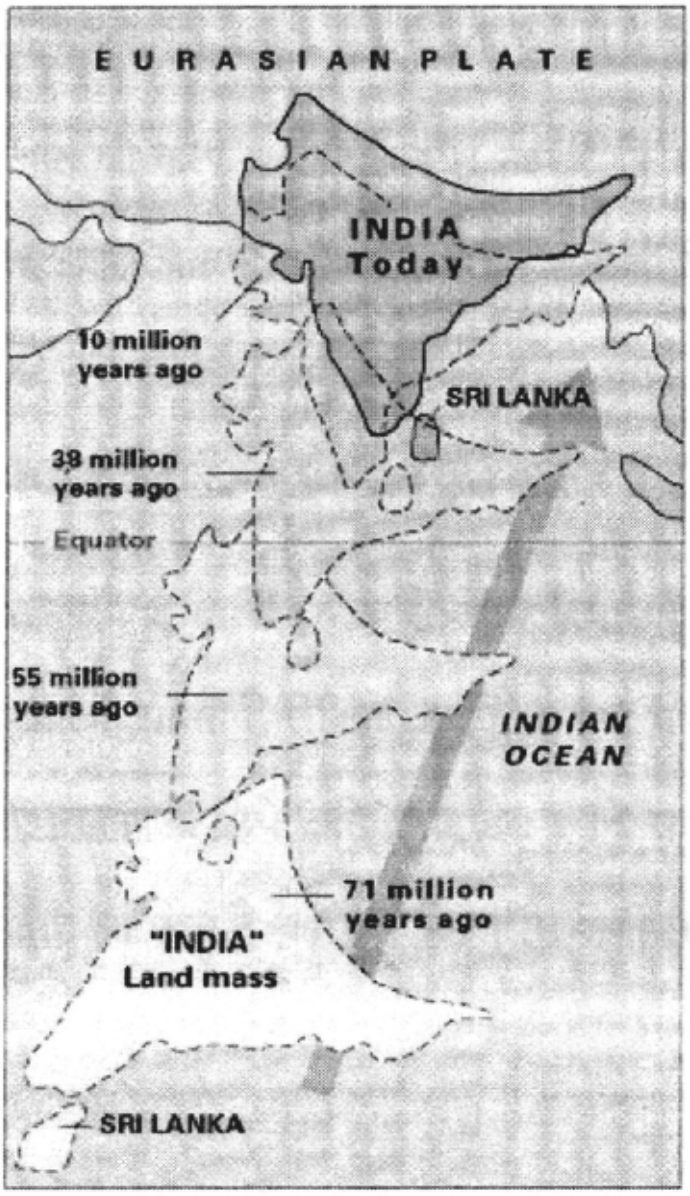

मानचित्र 1 : उत्तर की ओर बढ़ता महाद्वीप

पहले यह क्षेत्र समुद्र था जिसे आधुनिक भूवैज्ञानिक टेथीस सी कहते हैं तथा भारती वांगमय में उत्तर समुद्र कहा जाता है। हिमालय के दक्षिण का भाग, जो आजकल गंगा का मैदान है उस समय उत्तर समुद्र था। इसकी स्मृति भारतीयों को कम से कम बारहवीं शताब्दी ई. तक तो थी ही। लार तथा गोरखपुर से प्राप्त दो ताम्रपत्रों में पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार के उत्तरी भाग में राज्य करने वाले मलयकेतुवंश के राजा कीर्तिपाल तथा उसके पुत्र रामपाल ने अपने राज्य का नाम दरदगण्डकीदेश बताया है तथा उत्तरसमुद्र और सौम्यसिन्धु भी कहा है।[22] इस बात की कल्पना करना कठिन नहीं है कि चारों ओर से स्थल से घिर गया समुद्र किस प्रकार सौम्यसिन्धु बन जाता है। उस क्षेत्र के रहनेवाले बीसवीं शताब्दी में भी इसकी भयावहता से परिचित थे जब कि बरसात में मीलों तक जल ही जल दिखाई पड़ता था और अनेक छोटी नदियाँ मिल कर समुद्र का रूप धारण कर लेती थीं। इस उत्तर समुद्र का विनाश कैसे हुआ इसका उल्लेख भारतीय इतिहासग्रन्थों में है लेकिन इसकी चर्चा आगे की जा रही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विन्ध्य से लेकर हिमालय की तलहटी का भाग किसी समय समुद्र था, इस बात को प्रायः

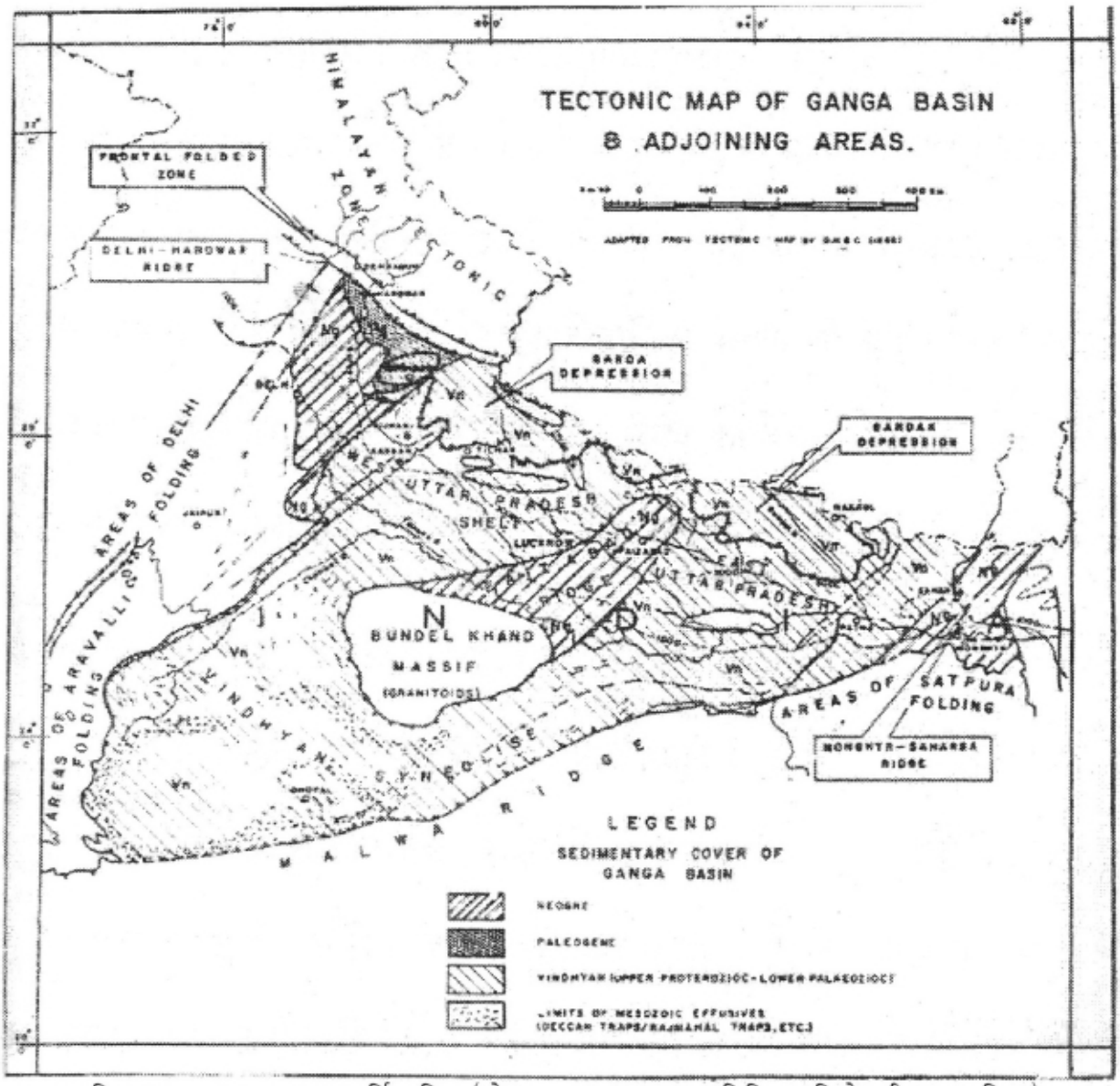

मानचित्र 2 : उत्तर भारत का भूगर्भिक चित्र (स्रोत – एस. एम. माथुर फिजिकल जियोलाजी आफ इन्डिया)

सभी भूवैज्ञानिक मानते हैं लेकिन उसका सम्बन्ध मानव इतिहास से हो सकता है इसकी कल्पना भी यूरोपीय ढंग से दीक्षित इतिहासकार के लिए अति दुरूह है। इसके सम्बन्ध में कुछ और बातें कहने के बाद उसकी चर्चा करेंगे। जहाँ तक इस मैदान का प्रश्न है यह पूरब में असम श्रेणी से लेकर पश्चिम में पंजाब के साल्ट रेन्ज तक विस्तृत है। ओल्ढेम के अनुसार हिमालय के पास इसकी गहराई 15,000 से 20,000 फीट तक है। दक्षिण से उत्तर तक यह औसतन प्रति सौ मील पर 130 फीट गहरी होती है जो उत्तर तक जाते-जाते 13,000 फीट हो गई है।[23] भूवैज्ञानिकों ने इस मैदान में तल पर विन्ध्य की तीन पर्वतश्रेणियों का उल्लेख किया है। बिहार में सहरसा पर्वतश्रेणी, मध्य में फैजाबाद पर्वतश्रेणी और पश्चिम में हरिद्वार पर्वतश्रेणी।

हिमालय के सामने का यह गर्त दक्षिण में विन्ध्य की पहाड़ियों तक विस्तृत था। इसकी जानकारी सलखन के जीवाश्मपार्क कहे जाने वाले क्षेत्र से भी होती है जो मिर्जापुर के समीप सोनभद्र जिले से मिला है। इसकी प्राचीनता एक अरब 60 करोड़ वर्ष मानी जाती है। इसकी श्रृंखला बिहार के रोहतास जिले में विन्ध्य सुपरग्रुप के सलखन चूनापत्थर से प्राप्त Mesoproterozoic microbiotas का अध्ययन डॉ. मुकुन्द शर्मा[24] ने किया और 1600 मिलियन वर्ष पूर्व का बताया। इसमें cyanobacteria की बहुतायत बताई गई है। इन सूक्ष्म जीवों को जीवन के प्रारम्भिक सोपान का बताया गया है। हमारे मत से इन्हें प्रथम या द्वितीय मन्वन्तर के जीव मानना चाहिए। किसी समय विन्ध्य पर्वत की घाटी का उत्तरी कगार समुद्र था जो पौराणिक आख्यान की पुष्टि करता हुआ महाद्वीपीय विचलन के सिद्धान्त के पक्ष में एक वैज्ञानिक प्रमाण भी है। सलखन जीवाश्म सूक्ष्म समूद्री जीवों द्वारा तैयार किया गया माना जाता है और इसकी प्राचीन तिथि को देखते हुये महाद्वीपीय विचलन के वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार यही माना जा सकता है कि उस काल में यह आस्ट्रेलिया से जुड़ा रहा होगा।

जो भी हो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी समय लगभग सारा उत्तर भारत समुद्र रहा होगा। इसके सम्बन्ध में महाभारत में कुछ कथानक आते हैं जिन्हें भारत के भूगर्भिक इतिहास का उल्लेख माना जाना चाहिए। महाभारत के वनपर्व (अ.104) में अगस्त्य की कथा आती है, इसमें उनके दो कार्यों का उल्लेख किया गया है। पहला यह कि उन्होंने विन्ध्य को और ऊँचा उठने से रोक दिया। कहा गया कि मेरु की प्रतिस्पर्धा में विन्ध्य ऊँचा उठने लगा था जिससे चिन्ता हुई। अगस्त्य से अनुरोध किया तो उन्होंने दक्षिण जाने का विचार किया और विन्ध्य पार करने लगे तो उसने झुककर प्रणाम किया। इस पर अगस्त्य ने कहा कि जब तक वह दक्षिण से वापस न आवें तब तक वह झुका रहे। यह भूगर्भिक घटना है जिसे प्रतीकात्मक रूप से वर्णित किया गया है। हम विन्ध्य के निचले भाग के एशिया की धरती के नीचे घुसने की चर्चा कर चुके हैं। इसी प्रक्रिया में गति अवरुद्ध हो जाने के कारण यदि विन्ध्य कुछ ऊँचा उठने लगे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अगस्त्य नाम का शाब्दिक अर्थ 'अग' अथवा पर्वत को स्थिर करनेवाला।

इसके अगले अध्याय में दूसरी भूगर्भिक घटना हिमालय के दक्षिण और विन्ध्य के उत्तर में बन गये गर्त के जल को पी जाने की है। कहा गया कि इस पानी में कालेय दैत्यों के उपद्रव को शान्त करने के लिए जब अगस्त्यजी से प्रार्थना की गई तो वे उसके जल को पी गये। लेकिन उनके मारे जाने के बाद जब उनसे जल को पुनः छोड़ने को कहा गया तो उनका उत्तर था कि 'वह तो पच गया। अब कोई दूसरा उपाय करो' इसके बाद महाभारत में राजा सगर तथा उनकी पाँच पीढ़ियों द्वारा गंगाजी को लाने के प्रयासों का वर्णन है। इसके भूगर्भिक घटना होने में किसी प्रकार का सन्देह करने की बात नहीं उठती क्योंकि अध्याय के अन्त में स्पष्ट कर दिया गया है कि 'समुद्र को भरने के लिए गंगा पृथिवी पर उतारी गयी थी'[25] इस कछारी भूमि में अनेक प्रकार के जीवांशों के अवशेष दबे हुए हैं। अबनीश चन्द्र दास ने लिखा है कि 'शाकभक्षी, मांसभक्षी कृन्तक तथा नरवानरगण एवं उन्नत स्तनपायियों के अवशेष' इस भराव में दबे पड़े मिले हैं।

यह भराव हिमालय तथा विन्ध्य से निकलनेवाली नदियों द्वारा लाये गये अवसाद से बना है। इस कार्य में लाखों करोड़ों वर्ष लगे होंगे और यह धीरे-धीरे हुआ होगा। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख भारतीय साहित्य में है? तो इसका उत्तर सकारात्मक दिया जा सकता है। शतपथब्राह्मण[26] में मथु के पुत्र विदेघ की कथा आती है जिसको अब तक विद्वानों ने आर्यो के पूर्व की दिशा में प्रसार के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है लेकिन हम इस कथा को हिमालय के दक्षिण में स्थित गर्त से जोड़ कर देखना चाहते हैं। इसमें सरस्वती तट पर रहने वाले विदेघ माथव के मुख से निकलकर वैश्वानर अग्नि इन क्षेत्रों को सुखाते हुये सदानीरा या गण्डकी नदी तक पहुँचती है। इसके आगे की दलदली भूमि भी अब कुछ हद तक सूख चली थी और नदी पार करके विदेघ वहीं बसने का निर्णय करते हैं। इस प्रकार उस क्षेत्र का नाम विदेघ या विदेह पड़ा। मथु से ही मिथिला नाम पड़ा होगा यद्यपि इसका अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। वाल्मीकीय रामायण में इसका नाम मिथि कहा गया है और उसके पुत्र का नाम प्रथम जनक कहा गया है जो वंशनाम है।[27] अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि विदेघ ही विदेह हो गया होगा और सभी राजाओं को जनक कहा जाने लगा, ठीक उसी तरह जैसे रावण (तेलुगु इरेवण = स्वामी या राजा, सं.अहिरावण) एक राजवंशीय नाम था।

शिव तथा पर्वतोत्थान

हमारे शास्त्रों में अलग से पर्वतात्थानशास्त्र नाम के किसी शास्त्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन अनेक प्राकृतिक घटनाओं के बारे में जो सूचना जिस प्रकार सांकेतिक कहानियों के माध्यम से दी गई है उनको जब हम वर्तमान वैज्ञानिक खोजों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि हमारे पूर्वज उन विद्याओं के बारे में बहुत शोध कर चुके थे जिनको आज अलग-अलग विज्ञानों के नाम से जानते हैं। पर्वतोत्थानविद्या या Orogeny एक ऐसा ही विज्ञान है जो पर्वतों के बारे में अत्यधिक विस्तृत जानकारियाँ संकलित कर रहा है। हमारे पूर्वज वैज्ञानिक निरीक्षण के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं को देखते थे और प्रतीकों में बाँधकर इस प्रकार प्रस्तुत करते थे कि सभी लोग उनको सरलता से हृदयंगम कर लें और श्रद्धापूर्वक आनेवाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित करते रहें। इनका उद्देश्य मानव को सत्पथ पर चलते रहने के लिए प्रेरित करते रहना था जिसमें वे पूरी तरह सफल रहे। अब नवीन वैज्ञानिक शोधों तथा उनकी जानकारी सबको उपलब्ध कराने की प्रवृत्ति के कारण लोगों की मानसिकता में भी परिवर्तन होता दिखाई पड़ रहा है। और लोग उन पर अधिक विश्वास भी करने लग गये हैं, अतएव शिव की कथा को उसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ। इस दिशा में और आगे काम करने की आवश्यकता है।

पर्वतोत्थान विद्या के सम्बन्ध में शिव का स्मरण स्वाभाविक है क्योंकि शिव स्वयं हिमालय के प्रतीक माने जाते है। आज शिव का जो स्वरूप जन-सामान्य के बीच प्रचलित है वह अन्य देवी-देवताओं की तरह एक मानव जैसा है जिनकी पत्नी पार्वती देवी हैं तथा दो बच्चे, कार्तिकेय एवं गणेश हैं। इन सबके अपने-अपने वाहन हैं। लेकिन इतिहास के एक खोजकर्ता विद्यार्थी की दृष्टि से देखने पर कहानी कुछ अलग ही दिखाई पड़ती है। शिव साक्षात् हिमालय हैं। उनकी जटायें शिवालक (शिवालिक) कहलाती हैं जो हिमालय के दक्षिण में पर्वतश्रेणियों के रूप में गंगा के मैदान में दूर तक फैली हुई हैं। स्वयं उनका निवास केलास (कैलाश नहीं) है जिसका अर्थ होता है वह स्थान जहाँ 'के' अर्थात् 'जल' प्रभूत मात्रा में उपस्थित हो। केलास से कुछ और दक्षिण आने पर केदारनाथ धाम (केद्वार) मिलेगा जहाँ से किसी समय हिमनद glaciers नदी का रूप धारण कर मैदान में उतरते थे। यहाँ भी शिव का निवास माना जाता है। शिव के तीन प्रतीक हिमालय से सम्बद्ध हैं। उनके शिर पर या जटाओं में गंगा बहती हैं। हम उन नदियों का उल्लेख कर चुके हैं जो केलास से निकलती हैं। उनमें दक्षिण वाहिनी भागीरथी एक गंगा हैं। मीक्यांग (माँगंगा) तथा यांगटिसिक्यांग भी गंगा से जुड़ा है। उनकी मौलि पर चन्द्र विराजमान हैं। चन्द्र भी जल से ही सम्बद्ध देवता हैं। त्रिपथगामिनी गंगा जब स्वर्ग या अन्तरिक्ष से उतरती हैं तो इन्दुमण्डल से होते हुये ही धरती

पर गिरती हैं।[28] इस कारण चन्द्र को भी शिव की मौलि पर सुशोभित बताया गया है। तीसरा प्रतीक कामदेव का कहा जाता है जिसको जल से सम्बद्ध मान सकते हैं। उसे शिव ने तीसरा नेत्र खोलकर भस्म कर दिया था। 'क' के अनेक अर्थों में जल को एक माना गया है। जैसे कमण्डलु (जलपात्र), कमठ (जल का घड़ा) आदि होता है। केलास और केदार शब्दों में 'के' जल अर्थ में प्रयोग की बात हम कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त कहार नाम की एक जाति हिन्दुओं में होती है जिसका शुद्ध रूप 'केहार' अथवा जल का आहरण करने वाला या पानी भरनेवाला होता है। ये घरों में पानी भरने तथा बर्तन मांजने का काम करते थे। ये कोहार या कुम्भकार से भिन्न होते थे। वेदों में इस विश्व को अग्निसोमात्मक कहा गया है अर्थात् जल और अग्नि दोनों ही इसमें अपना महत्व रखते हैं, और धरती पर जीवन की उत्पत्ति में इन दोनों की महती भूमिका है। शिवरुद्र, जिन्हें साक्षात् हिमालय माना जाता है, में जल एवं अग्नि का यह संयोग ध्यान देने योग्य है क्योंकि वे कल्याणकारी होने के साथ कल्पान्तकारी (प्रलय लानेवाले) भी हैं।

पार्वती को शिव की पत्नी कहा गया है। वह उनकी दूसरी पत्नी हैं। पहली पत्नी सती मानी जाती हैं जिनका सम्बन्ध मेरु पर्वत से था। उन्हें दक्ष की पुत्री बताया जाता है जो स्वयं प्रजापति थे। उस कथा को पुनः कहने का कोई तात्पर्य नहीं है। केवल यह बता देना आवश्यक है कि शिव का प्रथम निवास मेरु पर ही था। मत्स्यपुराण[29] के अनुसार मनुपुत्र इल जो मनु के बाद सुमेरु गिरि पर राज्य कर रहे थे अचानक शरवण में प्रविष्ट कर गये जहाँ शम्भु उमा के साथ क्रीडा कर रहे थे तथा उनका लिंग परिवर्तन हो गया। वे स्त्री बन गये। इस शरवण की पहचान हमने मध्य एशिया के जेरफ्शन से की है। ऋग्वेद में इसे शर्यणावन कहा गया है जहाँ से सोम की प्राप्ति होती थी। यह वही स्थान है जहाँ इन्द्र को दध्यञ्च का घोड़े का कटा हुआ सिर मिला था। इसके समीप ही मुञ्जवान पर्वत है और यह भी सोम के लिए विख्यात था। कहानी के विस्तार में न जाकर मेरु को शिव के प्रथम काल से जोड़ कर देखें तो मानव के इतिहास के प्राचीनतम अध्याय खुलने लगते हैं। उस समय देव-दानव-दैत्य आदि एक साथ रहते थे और परस्पर विवाह आदि भी करते थे जैसा कि ययाति की कथा से ज्ञात होता है। लेकिन हिमालय के अस्तित्व में आने से माँ दुर्गा का तीसरा चरित प्रारम्भ होता है जिसमें पार्वतीजी का स्पष्ट कार्य दिखाई पड़ता है।

जीव विकास में मातृशक्ति का योगदान

धरती पर जीवन के उद्भव एवं विकास के लिए मातृशक्ति के योगदान के लिए दुर्गा चरित का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। उनके पहले चरित में तो मधु-कैटभ का संहार होता है जिसमें मातृशक्ति का केवल इतना योगदान होता है कि वे योगनिद्रा में मग्न नारायण के शरीर से निकल जाती हैं और भगवान् को स्वयं दैत्यों का नाश करना पड़ता है। मधु-कैटभ धरती पर जीवन के उद्भव के लिए वे प्रारम्भिक हानिकारक तत्व थे जो जल में उत्पन्न हो गये थे। दूसरे चरित में करोड़ों वर्ष बाद माँ दुर्गा ने स्वयं महिषासुर का विनाश किया। यह छठें या चाक्षुषमन्वन्तर का अवसानकाल था जब पृथिवी पर मानव का आविर्भाव होने ही वाला था लेकिन सारी भूमि पर महिष छा गये थे जिनका नाश होना मानव की उत्पत्ति के लिए आवश्यक था। हमने इनकी पहचान कद्रू के पुत्रों से की है जो अब से लगभग चौदह करोड़ वर्ष पूर्व धरती की सबसे शक्तिशाली जीवन प्रजाति थी। आधुनिक विज्ञान इन्हें डायनासोर नाम से जानता है। इनके साथ विनता के पुत्र गरुड़ की भी शत्रुता थी। पुराजीवविज्ञानी बताते हैं कि इसी काल में अतिविशालकाय पक्षियों के भी अवशेष मिलते हैं लेकिन उनकी संख्या कम थी। विनता तथा कद्रू की कथा के साथ इसको जोड़ कर देखें तो स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। प्रकृति की प्रयोगशाला में जीवों की स्थूलता बढ़ते-बढ़ते भीमकाय डायनासोर तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई लेकिन उनमें प्रज्ञा तत्व का लेशमात्र था। सातवाँ मन्वन्तर आने को था अतः प्रज्ञावान जीव (मनुष्य) का सृजन होनेवाला था और धरती को उसके लिए तैयार करने हेतु इन महिषों का निकन्दन आवश्यक हो गया था। हिन्दू शास्त्रकारों ने महिषासुरमर्दिनी के माध्यम से जिस

प्राकृतिक शक्ति का उल्लेख किया है वह अपने में अद्वितीय है। मधु नामक विनाशकारी ऊर्जा का उल्लेख हम कर चुके हैं जिनका उच्छेद स्वयं नारायण को करना पड़ा था। कैटभ या सूक्ष्मजीव तो इतने सुधर चुके थे कि जीवनवृद्धि में सहायक भी बन रहे थे लेकिन मधु या स्थूलता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। रणक्षेत्र में ही देवी ने उनको चुनौती देते हुए कहा था कि 'हे मूढ़ तू क्षण भर गर्ज ले तब तक मैं मधु (तुम्हारी जीवनीशक्ति) पीती हूँ, उसके बाद शीघ्र ही देवगण गर्जेंगे।'[30] यहाँ पर मधु का अर्थ मदिरा नहीं है जैसा कि कुछ अज्ञानियों ने हाल ही में कुप्रचार किया था। यह उनकी जीवनीशक्ति थी जिसको नष्ट कर देने पर दुर्धर्ष महिषों का विनाश हो गया।

श्रीनारायण को भी इनका विनाश करना पड़ा था और देवी को भी। यह मधु मरुभूमि के विस्तार से भी सम्बन्धित हो सकता है क्योंकि श्रीकृष्ण को भी मधुसूदन कहा जाता है। जीव और बीज की भाँति मरु और मुर भी समान अर्थ वाले परस्पर वर्णपरिवर्तनीय शब्द हो सकते हैं।

तीसरे चरित में माँ पार्वती का कार्य होता है। यहाँ जिन असुरों से उनका सामना होता है वे सभी पर्वतोत्थान से सम्बन्धित हैं। शुम्भ और निशुम्भ पर्वत निर्माण के समय बननेवाले वाले गर्त और मोड़ faults and folds कहे जा सकते हैं। धूम्राक्ष, चण्ड-मुण्ड तथा रक्तबीज आदि के बारे में भी यही कहा जा सकता है। ज्वालामुखी फटने पर जिस प्रकार लावा आदि निकलता है तथा यदि यह घटना टेथीस सी या उत्तरसमुद्र जैसे अगाध जल में हो तो इस प्रकार के दृश्य बन सकते हैं। जो भी हो, इन आख्यानों के ऐतिहासिक तात्पर्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

कुछ उभड़ते प्रश्न

अब तक हमने जो चर्चा की है उसके निहितार्थ की ओर ध्यान देंगे तो कई यक्ष-प्रश्न सामने आ खड़े होते हैं। हम भारतीय महाद्वीप के आज के मानचित्र को ध्यान से देखें, उसमें से उत्तर भारत के गंगा मैदान को निकाल दें। इसमें भी पूरे राजस्थान को निकाल दें जो कभी सारस्वत सागर था और अब थार का मरुस्थल है। सरस्वती, शतुद्री तथा विपाशा नदियाँ इसी में गिरती थी। इसका यह अर्थ हुआ कि अरब सागर और बंगाल की खाड़ी, जिनके बीच में मनु का आर्यावर्त बसा हुआ है, एक दूसरे से मिले हुये थे। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा समय था जब भारतीय पंजाब, पूरा पाकिस्तान और अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया के कुछ क्षेत्र ही भूमिभाग थे। मध्य तथा उत्तरी एशिया का वह भाग जहाँ 'ब्लैक सी', 'कैस्पियन सी' तथा 'अराल सी' हैं वह भी नीची भूमि है, अर्थात् वहाँ सागर था। इसे 'सरमाटिक सी' कहा जाता है जो नाम सरमा नामक किसी जनजाति के नाम पर रखा गया है। कैस्पियन नाम भी किसी कश्यप नामक जनजाति के नाम पर रखा गया है ऐसा माना जाता है। ये दोनों ही पौराणिक नाम है। वहाँ अभी भी महाविस्तार वाले तीन मरुस्थल हैं जो सागर रहे होंगे। लेकिन जिस बात पर हम जोर देना चाहते हैं वह यह है कि आज जो भूमिराशि हमें यूरोप और एशिया के रूप में दिखाई पड़ रही है वह मनु के प्रलय के समय में अस्तित्व में नहीं रही होगी। धरती का चेहरा बदलता रहा है। महाद्वीपीय विचलन के सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन युग में भूमि का संकेन्द्रण दक्षिणी ध्रुव पर था वह अब उत्तरी ध्रुव में हो गया है। प्रायः सभी महाद्वीपों के सबसे चौड़े भाग उत्तर दिशा में तथा दक्षिणी हिस्से पतले दिखाई पड़ते हैं। यह धरती भूमात्रा के संकेन्द्रण की दिशा का ही संकेतक नहीं है वरन् उसकी गति का भी सूचक है।

वैदिक काल में भौगोलिक स्थिति भिन्न रही होगी इसके प्रमाण स्वयं वेदों में ही मिलते हैं। आश्चर्य तब होता है जब हम देखते हैं कि हमारे इतिहासकार 'आर्यों' के तथाकथित संप्रसार के लिए इसी भूगोल को लेकर परस्पर संघर्षशील दिखाई पड़ते हैं। वेदों में चार समुद्रों की चर्चा मिलती है जो अभी हाल तक संस्कृत साहित्य में प्रचलन में था। वेदों में जिन लोगों का उल्लेख है वे चतुःसमुद्र व्यवसायी जन थे। ऋग्वेद के लोग तीन मरुस्थलों, आठ पर्वतों श्रृंगों तथा सात सिन्धु या नदियों के देश

को जानते थे।[31] कुछ उल्लेखों के अनुसार सरस्वती तट पर कुरुक्षेत्र तक तो जानते थे तथा पूरब की नदियों में केवल गंगा को जानते थे। लेकिन वे गंगा की घाटी में स्थित कोसल, काशी, विदेह तथा उसके पूरब के भूभाग के बारे में नहीं जानते थे; शायद उस समय तक ये क्षेत्र अस्तित्व में ही नहीं थे। यदि हम ऋग्वेद के सूक्तों की रचना के कालविस्तार को ध्यान में रखे तो उनमें वर्णित भूगोल के अनेक स्तरों को मानना पड़ेगा जो हमारे भूगर्भिक सूचनाओं की पुष्टि करते दिखेंगे। इस शोध को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। मानव इतिहास की कालगणना की प्रचलित पाश्चात्य अवधारणा (दस हजार वर्ष) इस परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक ज्ञान के महासागर में एक बूंद से अधिक महत्व नहीं रखती। क्या ये सब बात मन्वन्तरों की विराट संख्याओं की पुष्टि करती नहीं दिखती?

दक्षिण की ओर देखें तो विन्ध्य के नीचे का भाग इस इतिहास में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। जो हाल कोसल, काशी, मगध का है वही इस प्रायद्वीप का भी है लेकिन एक अपवाद के साथ। भूगर्भिक रूप में इसका अस्तित्व था। इसके सात पर्वतों को कुलपर्वत कहा गया है; लेकिन मानव सम्भवतः तब तक यहाँ बसा नहीं था। सभी पुराकथाएं इसका श्रेय मनु को देती हैं जिस पर अविश्वास का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

दक्षिण भारत की सभी कथाएं इस बात का श्रेय अगस्त्य को देती हैं कि उन्होंने ही वहाँ जाकर मानवीय बस्तियाँ बसाईं। केरल में तो यहाँ तक प्रचलित है कि सबसे पहले वही पहुँचे थे। एक अनुश्रुति यह भी है कि वे द्वारका होते हुए गये थे। अब यदि हम सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के पुरातात्विक स्थलों को देखें तो ज्ञात होता है कि सबसे अधिक संकेन्द्रण गुजरात तथा सिन्धु नदी के मुहाने पर दिखाई पड़ता है। अतः यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अगस्त्य ने मेरु से यही रास्ता अपनाया होगा। मानचित्र सं. 3 से स्पष्ट होता है कि प्रायद्वीप के पश्चिम का काफी बड़ा भाग समुद्र द्वारा निगल लिया गया है। अतः इस बात की संभावना की जा सकती है कि गंगा की घाटी का जल सुखाने और विन्ध्य को स्तभ करने के बाद अगस्त्य की दक्षिण यात्रा इसी मार्ग से की गई होगी।

इस प्रकार हमें अपने इतिहास की दो अत्यन्त स्पष्ट प्रावस्थाएं (phases) दिखाई पड़ेंगी। सारस्वत-सैन्धव सभ्यता के पुरास्थलों की ओर एक बार फिर देखें जो गंगा के पश्चिम में बलूचिस्तान तक तथा उत्तर में शोर्तुघई (उत्तरी अफगानिस्तान) तक और दक्षिण में गुजरात तक ही मिलते हैं। इसे सारस्वत-सप्तसैन्धव सभ्यता का नाम दिया गया है। इसे पहली प्रवस्था मानें। दूसरी ओर एन.बी.पी. तथा पंचमार्क्ड सिक्कों को देखें जो बिहार से लेकर तक्षशिला तक तथा दक्षिण में मैसूर तथा श्रीलंका तक मिलते हैं। इन्हें कोसल के केन्द्र से निःसृत मान सकते हैं। यह भी उतनी ही ऊर्जावान तथा शक्तिशाली सभ्यता थी जिसकी निरन्तरता आज तक बनी हुई है। इसे गंगाघाटी नाम दिया जा सकता है। वेद एवं पुराणादि साहित्य और नृजातीय आनुवंशिकी के माध्यम से इसके सूत्र सारस्वत-सप्तसैन्धव सभ्यता से जुड़े हुये हैं। ऐसे में क्या हम इस बात पर विचार कर सकते हैं कि दोनों ही सभ्यतायें एक ही संस्कृति के दो पक्ष हैं जो इस पृथिवी पर अनेक भूगर्भिक उथल-पुथल के साक्षी हैं जिसकी व्याप्ति करोड़ों वर्षों में मानी जा सकती है?यह हमारे पौराणिक कथाओं की सत्यता की पुष्टि करती दिखाई पड़ती है जिसके अनुसार मनु अब से 12 करोड़ वर्ष पूर्व इस धरती पर अवतीर्ण हुए थे।

हमारे कुछ साथी विद्वानों को वैदिक सभ्यता के मध्य एशिया के सिद्धान्त से असहमति हो सकती है तथा वे यह भी कह सकते हैं कि इससे औपनिवेशिक विचारधारा वाले पाश्चात्य विद्वानों के पूर्व मतों की पुष्टि होती है। कुछ ऐसी ही बातें पाश्चात्य विद्वानों ने गंगा की घाटी तथा सारस्वत-सैन्धव के बारे में भी कहा है। लेकिन स्पष्ट ही हमारी यह स्थापनाएं एवं तर्क उनसे भिन्न हैं। हमारी खोजें जिस मार्ग का अनुसरण कर रही हैं वे औपनिवेशिक अवधारणाओं के विपरीत हैं। अतः हमें उनसें भयभीत होकर अपनी बात कहने से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। यदि वे इस बात की पुष्टि करते हैं तो हमें प्रसन्नता होनी चाहिए।

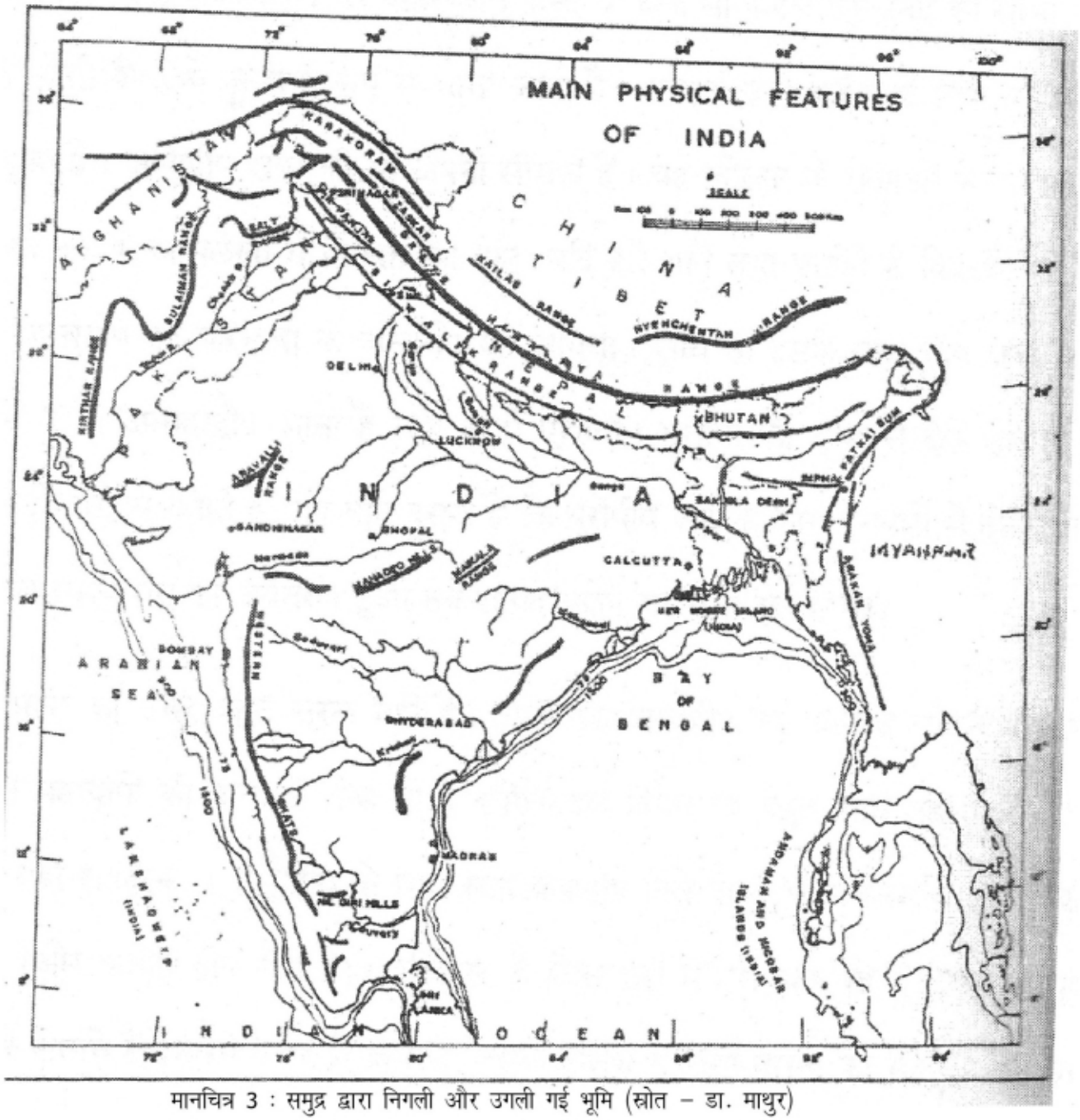

मानचित्र 3 : समुद्र द्वारा निगली और उगली गई भूमि (स्रोत – डा. माथुर)

इस विशाल चित्रपटल के परिप्रेक्ष्य में देखें तो एक अन्य विचित्र प्रश्न का सामना करना पड़ता है। वह यह है कि इस देश का नाम क्या था। इस समय तीन नाम हमारे सामने हैं। 1. भारत 2. सिन्ध, जिससे ग्रीक इन्ड, फारसी हिन्द तथा चीनी शेन् तु नाम बनते हैं तथा 3. जम्बूद्वीप।

यद्यपि भारत के लिए पुराणों में भरत नामक कई राजाओं के नाम आते हैं जिनमें ऋषभपुत्र भरत तथा दौष्यन्ति भरत प्रमुख हैं। लेकिन यह नाम पूरे उपमहाद्वीप के लिए प्रयुक्त होता था इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। दूसरी ओर आभिलेखिक प्रमाण यही कहते हैं कि खारवेल के समय भारतवर्ष शब्द केवल उत्तर भारत के लिए ही प्रयोग में लाया गया है।

कलिंग इससे बाहर था। हिन्द या इन्ड भी केवल सिन्धुनद की सीमा अथवा उसके उस पार (पूरब) के लोगों के लिए स्पष्ट रूप से माना जाता है। सम्पूर्ण उपमहाद्वीप के लिए तो इसका उपयोग शायद कभी नहीं हुआ है। जम्बुद्वीप शब्द की भी अपनी सीमाएं हैं। यह खोतान के राजाओं के अभिलेखों से लेकर अशोक तथा श्रीलंका तक के अभिलेखों में मिलता है। अतः यदि इसे मानें तथा पुराणों के विवरणों को स्वीकार करें तो सम्पूर्ण एशिया जम्बुद्वीप की परिभाषा के अन्तर्गत आ जायेगा। साथ ही इसके साथ द्वीप शब्द लगा हुआ है जिसकी परिभाषा में न तो उपमहाद्वीप आता है तथा न ही एशिया। भूमात्रा की दृष्टि से देखें तो पूरा यूरोप और एशिया एक ही विराट महाद्वीप बनाते हैं; यह बात दूसरी है कि यूरोपीय अहं के कारण नक्शो में दो महाद्वीप दिखाये जाते हैं। लेकिन जिस समय मनु का अवतरण हुआ तब शायद यूरोप जलमग्न रहा होगा।

अतः इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल नहीं है। जहाँ तक जम्बूद्वीप का प्रश्न है यदि हम शाल्मलीद्वीप, शंखद्वीप आदि सप्त महाद्वीपों की बात को छोड़ भी दें क्योंकि इस विषय पर बहुत शोध नहीं हुआ है तो भी हम जानते हैं कि हमारे यहाँ साहित्य में जम्बूद्वीप के साथ-साथ शकद्वीप जैसे शब्द भी प्रचलन में हैं जिनकी परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं है (और शायद द्वीप नहीं थे)। इतिहास के जिस युग में हम चल रहे हैं उसमें सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप ही हमारे सामने है जिसमें उत्तर में हिमाद्रि, उसके दक्षिण में गंगा-यमुना का मैदान और इन सबके भी दक्षिण में प्रायद्वीप, यही भूखण्ड आज भारत या हिन्दुस्तान समझा जाता है। हमने 'इन्डिया दैट इज भारत' मान कर एक समझौता कर लिया है लेकिन इतिहास की दृष्टि से विचार करने वालों के लिए यह कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करता। हिन्दुस्थान (हिन्दुस्तान) की बात तो इस लिए खारिज कर दी जाती है कि इसमें मुसलमान और ईसाई भी रहते हैं जिनको स्वतंत्रता की लड़ाई में हिन्दू के विरुद्ध खड़ा करके अलग मान लिया गया; अर्थात् वे सभी लोग जो मुसलमान या ईसाई नहीं हैं वे हिन्दू हैं। लेकिन क्या यह परिभाषा सही है? इसका उत्तर सोचने की किसी के पास फुरसत ही नहीं है क्योंकि सेक्युलरिज्म नामक नये धर्म पर चोट पड़ती है। वैसे राजनेता हिन्दुस्थान को अलग करके परम प्रसन्न हैं कि हिन्दू से तो छुट्टी मिल गई। वैसे हिन्दू कोई धर्म नहीं; यह मात्र एक भौगोलिक नाम है जो यहाँ के सभी निवासियों के लिए प्रयुक्त होना चाहिए। यहाँ के लोग अपने प्राचीन धर्म को सनातन कहते हैं जो मानवता के आदिकाल से चला आ रहा है।

हम पहले देख आयें हैं कि किसी समय वैदिक सभ्यता मध्यएशिया या यों कह लें कि जम्बुद्वीप में सीमित रही। बाद में एक ओर जहाँ धीरे-धीरे जनों और उनकी मान्यताओं में विभेद बढ़ने लगे तो दूसरी ओर भूगर्भिक परिवर्तनों के कारण भूमि भी समुद्र से बाहर आने लगी। ऐसे लोग अपनी-अपनी अलग पहचान पुष्ट करने तथा सुदूर इलाकों में बसने लगे तो केन्द्रीय धार्मिक मान्यताएं शिथिल पड़ने लगीं। बहुत बड़े कालखण्ड तक मनुष्य का मार्गदर्शन धर्म ही रहा। जहाँ मूल धार्मिक मान्यताएं और प्रथाएं पालन की जाती रहीं उनके प्रति श्रद्धाभाव होते हुए भी उदासीनता बढ़ती गई। इस प्रकार जातियों-प्रजातियों की संख्या भी बढ़ती चली गई। मूल धार्मिक मान्यताएं और प्रथाएं अर्थात् वैदिक यज्ञादि का केन्द्र धीरे-धीरे दक्षिण की ओर अर्थात् पंचनद और गंगा-यमुना की नवनिर्मित उपजाऊ भूमि की ओर खिसकता चला गया। हिमालय के कारण इस भूमि में तीन सुनिर्धारित मौसम या छः ऋतुएं होती थी और मानव के अस्तित्व के लिए विश्व की सर्वाधिक पसन्द की जगह बन गई। इस प्रकार सभ्यता के गुरुत्व का केन्द्र उत्तर भारत में आ गया। इसे भरतभूमि का नाम भरत जन के कारण दिया गया। दूसरी ओर पंचनद (पंजाब) के पश्चिम सिन्धु नदी बहने के कारण इसे सिन्धु के उस पार का या केवल सिंधु कहा जाने लगा। अपने उच्चारण क्षमता के अनुसार यह किसी के लिए हिन्दू हो गया तो किसी के लिए इन्दु तो किसी अन्य के लिए शेनतु।

फलश्रुति

विज्ञान द्वारा प्रतिपादित महाद्वीपीय विचलन का सिद्धान्त हमारे पौराणिक आख्यानों की पुष्टि करते हुए यह स्थापित करता है कि भारतीय महाद्वीप ही मनु की वह नौका थी जिसको स्वयं भगवान् विष्णु ने उत्तरगिरि या मेरुपर्वत पर लगाया था।

यह नये मन्वन्तर का प्रारम्भ था तथा वैवस्वत मनु के रूप में मानव धरती पर जन्म ले चुका था। उस समय यह क्षेत्र टेथीस सागर में से उत्थित हो रहा था। मानव ही नहीं अन्य सभी जीवों के विकास के लिए भी यह सर्वाधिक उपयोगी स्थल था। यह इलावृतवर्ष ही ईरानियों का एरियानो वेइजो था जिसके बारे में जेन्द अवेस्ता में कहा गया है कि इसका निर्माण अहुर मज्द ने धरती पर सर्वश्रेष्ठ भूमि के रूप में किया था जहाँ पर सभी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती थीं। यह वह काल था जब इस धरती पर अब तक के सबसे विकसित जीव मानव ने जन्म लिया और पृथिवी के इतिहास का सातवाँ अध्याय लिखा जाने लगा।

यह मानना उचित नहीं होगा कि विशाल पौराणिक साहित्य आज के विदेशी इतिहासकारों को भ्रमित करने के लिए लिखा गया था। अतः इसे इतिहास न मानने का दुराग्रह छोड़कर इस दिशा में शोध करने की आवश्यकता है। हमारे शोध से भारत के इतिहास की दो प्रावस्थाएं (phases) दिखाई पड़ती हैं जिनमें पहली को वैदिक युग या सप्तसिंधु सभ्यता कह सकते हैं तथा दूसरी को गंगा की घाटी की सभ्यता। यहाँ सप्तसिन्धु से तात्पर्य सिन्धु से नहीं वरन् मध्यएशिया तथा उससे सटा दक्षिणी भाग था। यह भूगर्भिक परिवर्तनों की भेंट चढ़ गया तभी वैदिक संहिताओं को बचाये रखने के लिए इतने उपाय करने की आवश्यकता अनुभव की गई। उसी निरन्तरता में गंगा घाटी की सभ्यता अस्तित्व में आयी। यह सब पुराणों एवं अन्य साहित्य में अंकित है; उसमें समय-समय पर परिवर्धन किये गये हैं लेकिन कुछ भी निरस्त नहीं किया गया, अतः इस दृष्टि से शोध की आवश्यकता है। पुरातात्विक अवशेष इसके साक्षी बनते दिखाई पड़ते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपने पुराणों एवं महाकाव्यों को आधार बना कर प्राचीन ईरान, एशिया, मेसोपोतामिया, मिस्र, ग्रीस ही नहीं वरन् अमेरिका के प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास पर भी काम किया जा सकता है। यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि इतिहास का महासागर लहरा रहा है और हम अभी उसमें गोता लगाने का उपक्रम भी नहीं कर रहे हैं।

यह प्रयास अभी शोध की प्रारम्भिक अवस्था में है अतः यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ भी यहाँ लिखा गया है वह अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। संशोधन की गुंजाइश है अतः आगे आनेवाली पीढ़ियाँ इस दिशा में काम करके हमारे द्वारा की गई त्रुटियों को सुधारेंगी इस आशा और विश्वास के साथ काम करते रहें।

संदर्भ

1. मैक्डानेल तथा कीथ को पार्जीटर ने संदर्भित किया है। आगे का उल्लेख वहीं से है। दे. 'ऐंशियन्ट इंडियन हिस्टारिक ट्रेडीशन' पृ.2।
2. दे. फर्स्ट सिविलाइजेशन आफ द वर्ल्ड, 2011, दिल्ली।
3. वही, पृ. 38
4. यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः। न चेत्पुराणं संविद्यान्नेव स स्याद्विचक्षण।।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।। वायु., पद्म., शिव., आदि। महा. में भी मिलता है।
5. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्राह्मणा स्मृतम्। मत्स्य. 3/3-4; वायु. 1/54; मार्क. 45/20-29। दे. पार्जिटर एन्शियन्ट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ.39।
6. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणिच। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।। छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
7. T.P. Verma, 'Hindu View on Origin of Life on Earth: Role of Ma Durga, the Mother Factor' Jñāna Pravāha Research Bulletin, No.11, 2007-2008, pp.50-60.
8. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, वेदों में विज्ञान, भदोही, 2000, पृ.21-23।
9. Danial J. Boorstin, The Discoveries, 1983, New York, p.598 ff.

10. वासुदेव पोद्दार, विश्व की कालयात्रा, कालपुरुष-इतिहासपुरुष, नई दिल्ली, 2000, पृ.231-32।

11. अधिक जानकारी के लिए हमारी पुस्तक Science of Manavantaras, Bangalore, 2006 देखें। वासुदेव पोद्दार जी की पुस्तक इस विषय के लिए अद्वितीय महत्व की है।

12. विष्णुपुराण 1/4/6

13. श्रीमद्भागवतपुराण 5/17

14. वाल्मीकि रामायण 1/43

15. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 106

16. पूरब की ओर बहनेवाली ह्लादिनी, पावनी और नलिनी (इन्हें ब्रह्मपुत्र, मीक्यांग तथा यांगत्सेक्यांग मान सकते हैं।) पश्चिम की ओर बहनेवाली सुचक्षु, सीता और सिन्धु तथा दक्षिण की ओर भगीरथी हैं। रामायण, 1/43/12-15

17. मन्वन्तर की कथा बायबिल में जेनेसिस 1 में दी गई है जिसमें ईश्वर ने छः दिनों में मनुष्य सहित सारी सृष्टि की रचना की और सातवें दिन आराम किया। यह वास्तव में मन्वन्तर की कथा का ही विकृत रूप है जो कई स्रोतों से होता हुआ बायबिल के कर्ताओं के पास पहुँचा। पुराणकथा पढ़ने के बाद ही यह मालूम होने लगता है कि वास्तविक इतिहास किसमें है।

18. देखिए जेनेसिस 6। आदम और नूह की कथा वास्तव में मन्वन्तर का विकृत रूप है जिसमें आदम को आदिमनु (स्वायंभू) तथा नूह को सातवें वैवस्वत मनु के रूप में प्रलय की कथा के साथ जोड़ दिया गया है।

19. देखिए जेनेसिस 11।

20. S.M. Mathur, Physical Geology of India, 1981, New Delhi, p.181 ff.

21. रामायण, किष्कन्धाकाण्ड, 58/8। इसके साथ समुद्र के लिए अरण्यकाण्ड 52।31-32 तथा 60/7 भी देखे।

22. T.P. Verma, & A.K. Singh, Inscriptions of the Gahadavalas and Their Times, New Delhi, 2011, pp.87-88

23. A.C. Das, Regvedic India, 3rd Revised Edition, Delhi, 1971, p.18.

24. Journal of Earth System Science, Vol.115, Feb.2006, pp.67-98.

25. 'पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता' - वन.,109/20

26. शतपथ ब्रा. 1/4/1/10-15

27. वाल्मीकीय रामायण 1/72/4

28. भागवतपुराण 5/17/4

29. मत्स्य., अध्याय 11

30. दुर्गासप्तशती 3/38

31. R.S. Bisht, 'Harappans and the Rgveda: Points of Convergence, in The Dawn of Indian Civilization (up to c.600 B.C.) edited by G.C. Pandey, p.394.